पं० कुन्दनलाल जैन
आयुर्वेदाचार्य

आयुर्वेद का उद्देश्य : संयमसाधना

जैन तीर्थंकरों की वाणी—उपदेश—विषयों के विभागों के अनुसार मोटे-मोटे १२ विभागों में विभक्त की गई है, जिन्हें जैन आगम की परिभाषा में 'द्वादशांग' कहते हैं. इन १२ अंगों में बारहवाँ अंग 'दृष्टिवाद' है. दृष्टिवाद के पांच भेद इस भांति हैं—१ पूर्वगत २ सूत्र ३ प्रथमानुयोग ४ परिकर्म ५ चूलिका. पूर्व १४ हैं. उनमें से १२ वें पूर्व का नाम 'प्राणावाय' पूर्व है. इस पूर्व में लोगों के आभ्यन्तर-मानसिक एवं आध्यात्मिक-स्वास्थ्य एवं बाह्य शारीरिक स्वास्थ्य की यथावत् स्थिति रखने के उपायभूत यम नियम आहार विहार एवं उपयोगी रस रसायनादि का विशद विवेचन है. तथा जनपदध्वंसि, मौसमी, दैविक, भौतिक आधिभौतिक व्याधियों की चिकित्सा तथा उसके नियंत्रण के उपायादि का विस्तृत विचार किया गया है.[1]

यह प्राणावाय पूर्व ही आयुर्वेद का मूल शास्त्र है. यही आयुर्वेद का मूल वेद है. इसी के आधार पर हमारे लोकोपकारी प्रातःस्मरणीय आचार्यों ने अथक श्रमद्वारा अनेकों आयुर्वेदीय ग्रंथों की रचना की है जो हमारे सरस्वतीभण्डारों की शोभा वर्तमान काल में बढ़ा रहे हैं. बहुत थोड़े ग्रंथरत्न ही प्रकाश में आये हैं. उन समस्त ग्रंथरत्नों को संकलित, परिष्कृत कर आधुनिक समय के योग्य टिप्पण आदि से युक्त कर प्रकाशित करने की महती आवश्यकता है.

जैन आगम जीव-आत्मा के इह लौकिक एवं पारलौकिक कल्याण एवं अभ्युदय के मार्ग को बतलाता है. जैन शास्त्रों में जीव की तथा इस विश्व की सत्ता स्वयंसिद्ध अनादिनिधन बतलाई है. इनका उत्पादक रक्षक एवं संहारक किसी व्यक्ति—ईश्वर—आदि को नहीं माना है. संसार की परिवर्तित होने वाली अवस्थाएँ द्रव्यों के स्वयं के स्व-परनिमित्तक परिवर्तन का परिणाम हैं. प्रत्येक द्रव्य[2] की सत्ता पृथक्-पृथक् है. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के स्वभाव में किसी प्रकार का परिवर्तन करने में समर्थ नहीं. प्रत्येक द्रव्य में एक स्वाभाविक परिणमन की शक्ति रहती है. जीव और पुद्गल की उस स्वाभाविक शक्ति के स्वाभाविक और वैभाविक परिणमनरूप दो विभाग हैं. और इन दोनों के कारण दोनों द्रव्यों में स्वभावपरिणमन एवं विभावपरिणमन होता रहता है. इस परिणमन में उपादान एवं निमित्त नाम के दो कारण-हेतु बतलाये गये हैं. पदार्थ में स्वयं तत्-तत्कार्य रूप होने की योग्यता का नाम उपादान है. अन्य द्रव्य की उस कार्य की पैदाइश के समय उपस्थिति का नाम निमित्त है. वह सबल एवं उदासीन रूप दो प्रकार का होता है. अतः जब कोई द्रव्य परिणमन को प्राप्त होता है तब उसकी स्वतः की परिणमन कराने वाली (स्वतः में निहित) शक्ति के अनुसार ही परिणमन होगा—उसी को उपादान शक्ति कहते हैं. शक्ति बाह्य सबल निमित्त को पाकर नियत परिणमन—कार्य का उत्पादन—करा देती है.

इसी बाह्य निमित्त की सबलता एवं उपयोगिता को हृदयंगम कर आचार्य ने लोकहित की भावना से प्रेरित होकर "आयुर्वेद" की रचना में अपना योगदान दिया. यह लोक—संसार—जीव का निवासस्थान है. इसे ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक

---

१. कायचिकित्साद्यष्टाङ्गं आयुर्वेदः भूतिकर्मजांगुलिप्रक्रमः
प्राणापानविभागोऽपि यत्र विस्तरेण वर्णितस्तत् प्राणावायम् । —तत्त्वार्थराजवार्तिक अ० १ सू० २०.

२. जैनागम में १ जीव २ पुद्गल ३ धर्म ४ अधर्म ५ आकाश ६ काल नाम के ६ द्रव्य माने हैं.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और अधोलोक इन तीन भागों में विभक्त किया है. लोक में जीव नाना योनियों एवं गतियों में निरंतर जन्म-मरण के द्वारा पैदा होते एवं मरते रहते हैं. शुभ कार्यों द्वारा उपार्जित महान् पुण्य का भोग करने के लिए यह जीव देवगति में जाता है. वहाँ रोग शोक जरा रहित होकर यथेष्ट इन्द्रियजनित भोगोपभोगों को भोगता है. निकृष्टतम अशुभ कार्यों द्वारा संचित पाप के द्वारा नरकों में भूमिजन्य, असुरजन्य और परस्परजन्य दैहिक एवं मानसिक अनेक प्रकार के दुखों को करोड़ों वर्षों तक भोगता है. कुछ मंद कषाय एवं पाप की अल्पता से पशु-गति के दुखों को भोगता है. पुण्य पाप के मिश्रित उदय में मनुष्य-गति के सुख-दुखों का अनुभव करता है.

इनमें देव और नारक अनपवर्त्तनीय आयु वाले होते हैं. इनकी मृत्यु असमय में बीमारी, विष, शस्त्र, रक्तक्षय आदि बाह्य कारणों से नहीं होती. आयु पूर्ण होने पर ही ये मरते हैं. जब बीमारी और बुढ़ापा देवों में है ही नहीं तब उनके वास्ते चिकित्साशास्त्र की आवश्यकता ही क्या है? नारकियों को इतना तीव्र पाप का उदय होता है कि उन्हें किन्हीं बाह्य वस्तुओं से सुखशांति पहुँचाना संभव ही नहीं. भयंकर प्रवाह वाली नदी पर, जिसके वेग को बड़ी से बड़ी शक्ति-वाले यंत्रों से भी न रोका जा सके, बाँध बाँधना श्रम और शक्ति का दुरुपयोग है, इसी प्रकार नारकियों के लिए भी चिकित्साशास्त्र अनुपयोगी है.

मनुष्य और तिर्यंचों में भी भोगभूमि में रहने वाले असंख्यात वर्ष की आयुवाले विष कंटक शस्त्रघात जरा रोग आदि उपद्रवों से रहित होते हैं. उनको न बुढ़ापा आता है, न बीमारी होती है. वहां का जीवन इतना सरल, सादा और सात्विक होता है कि वहां परस्पर रागद्वेष ईर्ष्यादि दुर्भाव नहीं होते. इससे कलह या परस्पर शस्त्राघात का उनमें प्रसंग नहीं होता. इसलिये उनकी भी अकालमृत्यु नहीं होती. कर्मभूमियों में भी विशेष पुण्यशाली चरमोत्तमदेहधारी महापुरुषों में रोगादि नहीं होते. इन सब को चिकित्सा की जरूरत नहीं. शेष बचे हम सरीखे मनुष्यों को इसकी जरूरत है. हमारे लिए इस आयुर्विज्ञान शास्त्र-आयुर्वेद के ज्ञान---का परम महत्त्व है.

बहुत प्राचीन काल से कइयों की यह धारणा चली आरही है कि किसी की अकालमृत्यु होती ही नहीं है. समय प्राप्त होने पर बीमारी, विष, शस्त्राघात, वृक्ष से गिरना, रेल, मोटर या हवाई दुर्घटना आदि का मात्र निमित्त मिल जाने से होने वाली मृत्यु को अकालमृत्यु कहना गलत है. किन्तु जैनदर्शन के समर्थ और गंभीर विद्वान् भगवान् भट्टाकलंक ने अपने महान् दार्शनिक ग्रंथ तत्त्वार्थराजवार्तिक में इस भ्रान्त धारणा का निरसन करते हुए कहा है—जैसे तीव्र हवा के झोंके से दीपक को बचाने के लिए लालटेन का उपयोग न किया जाय या हाथ वगैरह का आवरण न किया जाय तो वह बुझ जाता है. यदि आवरण हो तो बच जाता है, बुझता नहीं है. इसी प्रकार तीव्र सन्निपातादि से ग्रस्त मनुष्य की यदि उपेक्षा की जाय, उचित निदानपूर्वक चिकित्सा न की जाय तो वह मर सकता है. इसके विपरीत यदि आयु शेष है तो उचित चिकित्सा उसे बचा लेगी. इसी मूलभूत विचार से प्राणावाय पूर्व की रचना की गई है. उनका मूलवार्तिक इस भांति है—'आयुर्वेद प्रणयनान्यथानुपपत्तेः' यदि रक्तक्षयादि से अकाल मौत न मानी जाय तो उससे बचाने के लिए भगवान् तीर्थंकर आयुर्वेद—प्राणावाय पूर्व—की रचना नहीं करते. रचना उन्होंने की है, इसी से सिद्ध है कि अकाल-मृत्यु से भी प्राणी का मरण होता है और ऐसे मरण को उचित उपाय द्वारा टाला जा सकता है.

जब अकालमृत्यु, बीमारियों की यंत्रणा, अकालवार्धक्य आदि मनुष्य के जीवन में सुख स्वास्थ्य के दुश्मन मौजूद हैं तब उनसे बच कर रहने के उपाय बताना आवश्यक है. और इसी आवश्यकता की पूर्ति आयुर्वेद करता है.

संसार में धर्म अर्थ काम मोक्ष, ये चार पुरुषार्थ हैं—प्रत्येक मनुष्य के जीवन के लक्ष्य हैं. इनमें मोक्ष और काम पुरुषार्थ साध्य हैं और धर्म तथा अर्थ पुरुषार्थ उनके साधन हैं. इन पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए शरीर की नीरोगता परम आवश्यक है. कहा है—'धर्मार्थकाममोक्षाणां आरोग्यं मूलमुत्तमम्.

आयुर्वेद-अवतार की प्रस्तावना करते हुए दिगम्बराचार्य उग्रादित्य ने अपने "कल्याणकारक" नामक ग्रंथ में इसी तथ्य को इस प्रकार प्रकट किया है—"देवाधिदेव भगवान् आदिनाथ के पास, कैलाशपर्वत पर पहुँच कर भरत चक्रेश्वर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ने निम्नलिखित प्रार्थना की—"हे प्रभो, पहले दूसरे और तीसरे काल में इस भरत क्षेत्र में भोगभूमि थी. लोग परस्पर एक दूसरे को अत्यन्त स्नेह से देखते थे, उनमें ईर्ष्या द्वेष नहीं था. अपने पुण्य के फल से प्राप्त समस्त इष्ट भोगों को भोग कर नियत समय पर आयु पूर्ण कर स्वर्ग में देवगति के सुख भोगने को जाते थे. भोगभूमि समाप्त होकर कर्मभूमि आई. इसमें भी पुण्यात्मा चरमशरीरी उत्तम देहवाले भगवान् तीर्थंकर दीर्घ आयु के धारक होते हैं. परन्तु अधिकतर लोग विष शस्त्रादि से घात योग्य शरीर वाले होते हैं. उनको वात पित्त कफ की हीनाधिकता से महान् बीमारियां उत्पन्न होती हैं. उन्हें ठण्ड, गरमी वर्षा ऋतु की प्रतिकूलता दुखी करती है. वे लोग अपथ्य आहार-विहार का सेवन करते हैं. इसलिए हे नाथ! हमें इन दुखों से छूटने का उपाय बतलावें".

तब देवाधिदेव परमदेव आदिप्रभु ने कहा—"हे भरतेश्वर ! स्वस्थ के स्वास्थ्य का रक्षण करने और अस्वस्थ के अस्वास्थ्य को मिटाने का उपाय इस प्रकार है—उचित काल में हित, मित आहार-विहार का सेवन करता हुआ तथा क्रोध काम लोभ मोह मान आदि शांति के शत्रुओं से निरंतर बचता हुआ जो व्यक्ति अपना जीवन व्यतीत करता है तथा समय-समय पर सतत स्वास्थ्य की रक्षा के लिए रसायन द्रव्यों को शरीर की शुद्धिपूर्वक उचित समय में सेवन करता है, वह कभी बीमारियों या असामयिक वार्धक्य आदि के वशीभूत नहीं होता. यह स्वस्थ का स्वास्थ्यरक्षण है.

यदि कर्मयोग से, भूल आदि निमित्त के वश रोग आ ही जाएँ तो निदानज्ञ विद्वान् से वात पित्त कफादिक में, जिसकी हीनाधिकता से रोग उत्पन्न हुआ हो, उसको समझ कर हीन को बढ़ाने वाले शुद्ध द्रव्यों के सेवन द्वारा उचित परिमाण में बढ़ाना बृंहण कहलाता है. तथा यदि दोष बढ़े हुए हों तो उन्हें कम करने वाले द्रव्यों को उचित मात्रा में सेवन कर बढ़े हुए दोषों को कम करना कर्षण चिकित्सा कहलाती है. इस प्रकार उभयप्रकारी चिकित्सा द्वारा स्वास्थ्य प्राप्त करना चाहिए. तभी शरीर संयमसाधना के उपयुक्त होगा और संयम की आराधना द्वारा अंतिम पुरुषार्थ मोक्ष की सिद्धि होगी."

आदिनाथ प्रभु की यही दिव्यध्वनि आयुर्वेदप्रणयन का मूल बनी और इसी आधार पर पूज्यपाद, समंतभद्र, अकलंक आदि प्राचीन जैनाचार्यों ने आयुर्वेद संबंधी अनेक रस-ग्रंथ लिखे. रस और उसमें भी खासकर खल्वी रसायन आयुर्वेद को जैनाचार्यों की महान् देन है. श्री हर्षगणि आदि द्वारा लिखित "योगचिन्तामणि" सरीखा महान् ग्रन्थ तो सस्ते आशुरोगापहारी सुलभ योगों का भण्डार है और आज के युग की अर्थहीन मध्यवित्त जनता के लिए चिन्तामणिरत्न का काम देता है.

इस प्रकार जैनागम के महान् आचार्यों ने आयुर्वेद की सेवा विशुद्ध लोककल्याण की भावना के साथ स्वस्थ शरीर द्वारा संयमपालन की दृष्टि से की है.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org